भजन क्लबिंग

भजन क्लबिंग या भजन जामिंग मेट्रो सिटी और सोसाइटी कल्चर से शुरू हुआ एक ऐसा नया सांस्कृतिक और आध्यात्मिक ट्रेंड है, जो अब छोटे शहरों का रुख कर रहा है। दिल्ली, मुंबई, बेंगलुरु, कोलकाता और पुणे जैसे शहरों से निकली 'स्पिरिचुअल पार्टी' की इस विधा में पारंपरिक भजनों को इलेक्ट्रॉनिक म्यूजिक, हाईटेक लाइट्स और क्लब के माहौल के साथ मिलाकर किसी नई दुनिया जैसा संसार सजाया जाता है। यह फ्यूजन जेन-जी युवाओं के बीच काफी तेजी से लोकप्रिय हो रहा है। ऐसे आयोजनों में किसी नाइट क्लब या रॉक कॉन्सर्ट जैसे माहौल में भजनों, भक्ति गीतों और मंत्रों पर नशा-मुक्त वातावरण में लोग अपनी ही मस्ती में झूमते और नाचते हैं। इस तरह भजन क्लबिंग का आयोजन भक्ति संगीत, ध्यान और सामूहिक ऊर्जा का एक ऐसा अनोखा मेल जाता है, जिसमें लोगों को सकारात्मकता के साथ शांतिपूर्ण आत्मिक अनुभव मिलता है।

-मनोज त्रिपाठी, कानपुर

परंपरा और संस्कृति का नया मिश्रण

आधुनिक तकनीक के साथ संगीत व प्रस्तुति का नया अंदाज

आध्यामिकता और आधुनिकता का संगम किस तरह मौजूदा माहौल में खासकर युवाओं के बीच अपनी जगह बना सकता है, इसे भजन क्लबिंग या जामिंग ने साबित कर दिखाया है। बड़े शहरों के रूफटॉप कैफे, लाउंज, हॉल, रिजॉर्ट या आर्ट स्टूडियो जैसे स्थानों पर आयोजित होने वाले इन कार्यक्रमों को किसी एक दिन, स्थान या व्यक्ति द्वारा शुरू नहीं किया गया, बल्कि यह भक्ति संगीत संध्या जैसे कार्यक्रमों के लगातार बदलते स्वरूप को नया विजन मिलने जैसा है। आप इसे पारंपरिक कीर्तन का आधुनिक स्वरूप मान सकते हैं, जिसने पहले कीर्तन और देवी जागरण जैसे कार्यक्रमों में आधुनिक तकनीक, थीम आधारित सजावट और लोक संस्कृति के साथ रचनात्मकता का नया रंग भरा, फिर युवाओं की कल्पना पाकर संगीत और प्रस्तुति का नया अंदाज भर दिया। यही वजह है कि आज जेन-जी भजन क्लबिंग को न सिर्फ धर्म और आध्यात्मिकता से सराबोर समाज और संस्कृति को जोड़ने वाले आयोजन मानता है, बल्कि यह भी कहता है कि ऐसे आयोजन पीढ़ियों का अंतर मिटाने के साथ माता-पिता और बच्चों के बीच संबंधों को भी मजबूत बना रहे हैं। इस प्रकार यह भक्ति को एक नए और ऊर्जावान अंदाज में अनुभव करने वाले युवाओं के लिए नया सांस्कृतिक ट्रेंड है, जो पार्टी के वातावरण को भक्ति और अध्यात्म से जोड़ देता है।

रॉक या बॉलीवुड बीट्स के साथ जेन-जी की कल्पना का इस्तेमाल

वास्तव में भजन क्लबिंग न तो पारंपरिक भजन संध्या है और न इसे नाइट क्लब जैसा समझा जा सकता है, लेकिन यह इन दोनों के बीच का ऐसा संगम जरूर है, जिसने युवाओं के लिए मौज-मस्ती के साथ सकारात्मक ऊर्जा का मार्ग खोल दिया है। यह ट्रेंड भारतीय युवाओं की धीरे-धीरे बदल रही प्राथमिकताओं का नतीजा है। एक ऐसी पीढ़ी जो अपनी सांस्कृतिक पहचान पर गर्व तो करना चाहती है, लेकिन पुरानी मान्यताओं और वर्जनाओं में बंधकर नहीं। ऐसे में भजन क्लबिंग में भजनों को रॉक या बॉलीवुड बीट्स के साथ प्रस्तुत किए जाने और लाइव बैंड, डीजे तथा डिस्को लाइट्स के इस्तेमाल से एक ऐसा वातावरण सृजित हो जाता है, जो उन्हें परंपरा और आधुनिकता से जोड़ देता है।

लेजर लाइट्स और बड़े डांस फ्लोर पर झूमना

भजन क्लबिंग में प्राचीन श्लोकों और भजनों को हाई-एनर्जी बीट्स, इलेक्ट्रिक गिटार, ड्रम और आधुनिक साउंड सिस्टम के साथ बजाया जाता है। माहौल में लेजर लाइट्स, स्मोक मशीन और बड़े डांस फ्लोर होते हैं। यहां युवा नाचते हैं और झूमते हैं। जमीन पर बैठकर या खड़े होकर आनंद में डूबकर तालियां बजाते हैं और सामूहिक कीर्तन करते हैं। उनकी जुबान पर हरे कृष्णा या शिव स्तुति जैसे बोल होते हैं। पारंपरिक क्लबों के विपरीत, यहां शराब या किसी अन्य प्रकार के नशे का सेवन नहीं होता है। लोग गर्व से चाय-कॉफी या छाछ पीते हैं और संगीत की ऊर्जा से खुद को 'हाई' महसूस करते हैं।

पॉजिटिव एनर्जी और मंत्रों का जाप मन को कर देता शांत

जेन-जी को पारंपरिक धार्मिक आयोजन अक्सर काफी सख्त और कभी-कभी बोरिंग कार्यक्रम जैसे लगते हैं, ऐसे में भजन क्लबिंग के जरिए जब धर्म और भक्ति को लाइटिंग, डीजे मिक्स और वाइब्रेंट माहौल के साथ मिलाया जाता है, तो उन्हें बिल्कुल नया अनुभव होता है। ऐसे आयोजनों में भाग लेने वाले अधिकतर युवाओं का कहना है कि पॉजिटिव एनर्जी और मंत्रों का जाप उनके मन को शांत करता है, जिससे शारीरिक थकान दूर होने के साथ मानसिक स्ट्रेस कम होता है।

मोदी ने संस्कारों से जुड़ा नया आध्यात्मिक आंदोलन बताया

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपने 'मन की बात' (25 जनवरी 2026) कार्यक्रम में इस ट्रेंड को आध्यात्मिकता और आधुनिकता का सुंदर मेल बताते हुए कहा था कि ऐसे आयोजनों में युवा अपनी संस्कृति और परंपरा से नए तरीके से जुड़ रहे हैं। यह ट्रेंड एक आध्यात्मिक आंदोलन जैसा है, जो आज के युवा की भक्ति की भावना को जीवनशैली से जोड़ रहा है। उन्होंने इस बात पर खुशी भी जताई थी कि इन आयोजनों में भजनों की पवित्रता और गरिमा से कोई समझौता नहीं किया जाता। यहां स्टेज भले ही किसी इंटरनेशनल कॉन्सर्ट जैसा हो, लेकिन जो एनर्जी और श्रद्धा होती है, वह पूरी तरह से भारतीय संस्कारों से जुड़ी होती है।

अनोखी परंपरा

धनगांव: जहां समय से पहले दस्तक देते हैं त्योहार

भारत अपनी विविध संस्कृतियों और अनूठी परंपराओं के लिए विश्व भर में विख्यात है। यहां के कण-कण में लोक कथाएं और श्रद्धा का वास है। इसी सांस्कृतिक विविधता के बीच मध्य प्रदेश के मंडला जिले में स्थित धनगांव अपनी एक ऐसी विशिष्ट पहचान रखता है, जो आधुनिक तर्क को चुनौती देती है। इस गांव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां दीपावली, होली, दशहरा और रक्षाबंधन जैसे राष्ट्रीय त्योहार पूरे देश से एक दिन पहले मनाए जाते हैं। जब शेष भारत उत्सव की तैयारियों में व्यस्त होता है, तब धनगांव के आंगन खुशियों और रंगों से सराबोर हो चुके होते हैं।

इस अनोखी परंपरा की जड़ें लगभग सवा सौ वर्ष पुरानी हैं। यह बैगा आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है, जहां परंपराएं केवल रीति-रिवाज नहीं, बल्कि जीवन जीने का आधार हैं। ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार, एक सदी पहले जब ग्रामीण कैलेंडर की तय तिथियों पर त्योहार मनाते थे, तो गांव को भीषण कष्ट झेलने पड़ते थे। कभी कोई भयंकर प्राकृतिक आपदा दस्तक देती, तो कभी त्योहार की पूजा करने वाला मुख्य सदस्य अचानक गंभीर रूप से बीमार होकर काल का ग्रास बन जाता। इन रहस्यमयी और दुखद घटनाओं ने ग्रामीणों के मन में गहरा भय पैदा कर दिया था।

लोककथाओं के अनुसार, संकट के उस दौर में ग्राम देवता खेरमाई माता ने एक ग्रामीण को स्वप्न में दर्शन दिए। माता ने निर्देश दिया कि यदि ग्रामीण 'कुकरापाट' नामक स्थान पर स्थित विशाल शिला को देवता मानकर उनकी पूजा शुरू करें और निर्धारित तिथि से एक दिन पूर्व उत्सव मनाएं, तो गांव पर मंडराते संकट टल जाएंगे। ग्रामीणों ने पूर्ण श्रद्धा के साथ इस आदेश का पालन किया और परिणाम स्वरूप अनहोनी का सिलसिला थम गया। आपदाएं शांत हो गईं और लोग स्वस्थ रहने लगे। आज के डिजिटल युग में भी धनगांव के लोग अपने पूर्वजों की इस व्यवस्था को तोड़ने का साहस नहीं करते। बुजुर्गों का मानना है कि जब भी कभी इस नियम में बदलाव की कोशिश की गई, गांव को किसी न किसी बड़ी विपत्ति या मृत्यु का सामना करना पड़ा। यही कारण है कि 'हरेली' और 'पोला' जैसे कृषि आधारित पर्व हों या दीपावली जैसे बड़े त्योहार, यहां की रस्में एक दिन पहले ही संपन्न हो जाती हैं।

आर्ट गैलरी

पॉल सेजेन की 'ले कैबनन डे जॉर्डन'

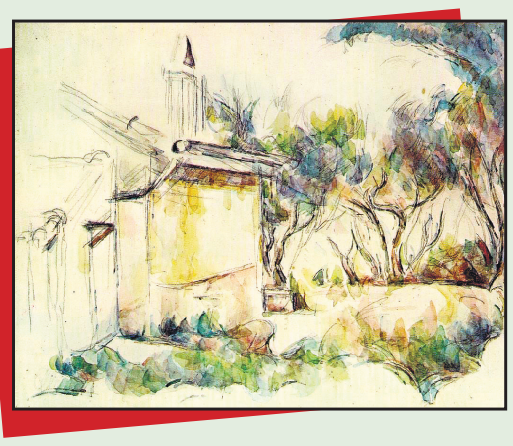

ले कैबनन डे जॉर्डन एक लैंडस्केप पेंटिंग है, जिसे फ्रेंच आर्टिस्ट पॉल सेज़ेन ने 1906 में बनाया था। इसे उसी साल उनकी मौत से पहले उनका आखिरी पूरा किया हुआ काम माना जाता है। पेंटिंग में पेड़ों के बीच एक छोटी सी झोपड़ी है, जिसके पीछे दूर एक पहाड़ी बैकग्राउंड है। सेज़ेन के स्टाइल की खासियत है, बार-बार ब्रशस्ट्रोक और रंगों के प्लेन, जो इस पेंटिंग में साफ दिखते हैं। मोटे, बोल्ड ब्रश स्ट्रोक के इस्तेमाल से टेक्सचर और गहराई आती है, जिससे पेंटिंग में मूवमेंट और जान का एहसास होता है। यह स्टाइल सेज़ेन के उस मकसद को दिखाता है कि वह एक ऐसी इमेज बनाना चाहते थे, जिसमें रंगों के अलग-अलग पैच एक साथ मिलकर एक पूरे रूप में हों। ले कैबनन डे जॉर्डन अपने चमकीले रंगों और खूबसूरत कंपोजिशन के जरिए प्रकृति की सुंदरता को दिखाता है। रंगों की रिचनेस और लेयर्ड टेक्सचर प्रकृति को एक्सप्लोर करते हुए बिताए गर्मियों के दिनों की याद दिलाता है। फैन इस आर्टवर्क को नेचुरल सुंदरता और मॉडर्न आर्ट के मेल के लिए पसंद करते हैं।

पॉल के बारे में

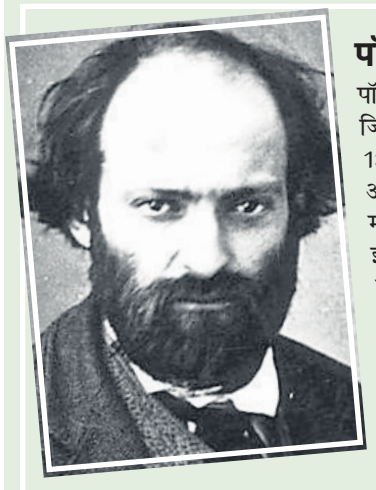

पॉल सेजेन एक फ्रेंच पेंटर थे, जिनका जन्म 19 जनवरी, 1839 को हुआ था और 22 अक्टूबर, 1906 को उनकी मौत हो गई। वह अपनी पोस्ट-इंप्रेशनिस्ट स्टाइल की पेंटिंग के लिए जाने जाते हैं, जिसने मॉडर्न आर्ट की नींव रखी। सेजेन ऐक्स-एन-प्रोवेंस में पले-बढ़े, जहां उन्होंने अपने पिता की इच्छा के खिलाफ आर्ट में करियर बनाने का फैसला करने से पहले लॉ की पढ़ाई की। वह 1860 के दशक के आखिर में पेरिस चले गए, जहां उनकी मुलाकात क्लॉड मोनेट और केमिली पिसारो जैसे दूसरे प्रभावशाली कलाकारों से हुई, जिन्होंने उनके आर्टिस्टिक स्टाइल को आकार देने में मदद की।

लोकायन

ब्रज की सांस्कृतिक धरोहर चरकुला नृत्य

भारत की सांस्कृतिक विविधता का जब भी उल्लेख होता है, उत्तर प्रदेश के ब्रज क्षेत्र का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। यहां की लोक कलाओं में 'चरकुला' नृत्य एक ऐसा अनूठा रत्न है, जो न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि श्रद्धा, संतुलन और साहस का अद्भुत संगम भी है। अपनी विशिष्ट शैली और लोकप्रियता के कारण, अक्सर इसकी तुलना भारत के प्रतिष्ठित शास्त्रीय नृत्य कथक से की जाती है। यह नृत्य विशेष रूप से ब्रज के ग्रामीण ब्राह्मण समुदायों में प्रचलित है और होली के तीसरे दिन बड़े उत्साह के साथ आयोजित किया जाता है।

चरकुला नृत्य की जड़ें द्वापर युग और भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं से गहराई से जुड़ी हैं। इसके पीछे दो प्रमुख पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं। पहली कथा के अनुसार, जब श्रीकृष्ण ने अपनी कनिष्ठा उंगली पर गोवर्धन पर्वत उठाकर इंद्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा की थी, तब ग्वालों और ग्रामीणों ने अपनी विजय और कृतज्ञता प्रकट करने के लिए यह नृत्य किया था। दूसरी कथा इस प्रकार है: जब राधा का जन्म हुआ, तो उनकी माता सिर पर चरकुला या तेल के दीपक लेकर पूरे गांव को खुशखबरी देने के लिए बाहर दौड़ीं। ये तथ्य इसे एक प्राचीन नृत्य शैली बनाते हैं। यही कारण है कि यह नृत्य आज भी एक मंगलकारी उत्सव के रूप में जीवित है।

चरकुला नृत्य की सबसे चुनौतीपूर्ण विशेषता इसका शारीरिक संतुलन है। महिला नर्तकियां अपने सिर पर लकड़ी का एक बहुस्तरीय पिरामिडनुमा ढांचा रखती हैं, जिसमें 6 से 8 स्तर होते हैं। इन स्तरों पर जलते हुए तेल के दीपकों की संख्या 51 से लेकर 108 तक हो सकती है। इन प्रज्वलित दीपकों के समूह को ही 'चरकुला' कहा जाता है, जिससे इस नृत्य का नाम पड़ा। सिर पर अत्यधिक भार और जलते दीपकों के कारण नर्तकी की गति अत्यंत सीमित हो जाती है। वह न तो अपनी गर्दन हिला सकती है और न ही शरीर को झटके से मोड़ सकती है। इन कठिन सीमाओं के बावजूद, एक कुशल नर्तकी संगीत की लय पर बड़े ही सुघड़ ढंग से घूमते हुए और पदचाप करते हुए आगे बढ़ती है। एक समूह में 5 से लेकर 50 नर्तकियां हो सकती हैं और यह प्रदर्शन 15 मिनट से लेकर 3 घंटे तक चल सकता है। नर्तकियां टखनों तक लंबी रंगीन स्कर्ट और पारंपरिक कढ़ाईदार ब्लाउज पहनती हैं, जो प्रदर्शन को अत्यधिक आकर्षक बनाते हैं। नृत्य के दौरान बजने वाला संगीत ब्रज की प्रसिद्ध रसिया धुन पर आधारित होता है। रसिया को भगवान कृष्ण का गीत और प्रेम का प्रतीक माना जाता है। ढोल की थाप और पुरुष गायकों के स्वर इस लोक नृत्य में प्राण फूंक देते हैं।

कला बाजार और लोककला: संरक्षण, परिवर्तन और संकट

कला बाजार के बढ़ते प्रभाव के बीच जब हम आज की लोककला परंपराओं पर नजर डालते हैं, तो एक साथ हर्ष और विषाद दोनों भाव सामने आते हैं। हर्ष इसलिए कि देश के विभिन्न हिस्सों में आज बड़ी संख्या में लोक कलाकार अपनी कला के माध्यम से सम्मानजनक जीवनयापन कर पा रहे हैं। विषाद इसलिए कि इसी प्रक्रिया में लोककला की कई मूलभूत विशेषताएं धीरे-धीरे क्षीण होती दिखाई दे रही हैं।

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

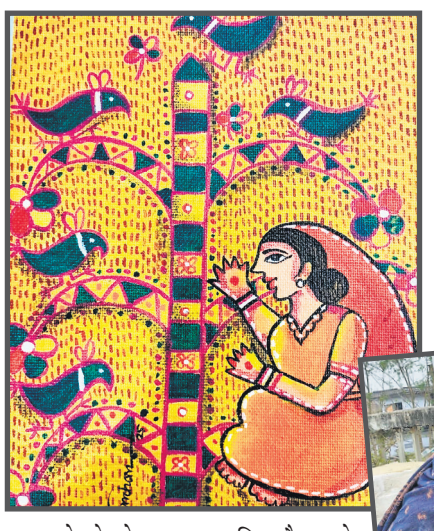

पिछले दो दशकों में लोककला को लेकर संस्थागत और सरकारी स्तर पर एक स्पष्ट सक्रियता देखी गई है। राज्य स्तरीय पुरस्कारों से लेकर राष्ट्रीय पुरस्कारों और पद्म सम्मानों तक, लोक कलाकारों की उपस्थिति लगातार बढ़ी है। यदि प्रत्येक वर्ष जारी होने वाली पद्म पुरस्कार सूची पर दृष्टि डालें, तो यह स्पष्ट होता है कि समकालीन शहरी कलाकारों की तुलना में लोक और पारंपरिक कलाकारों की संख्या कहीं अधिक है। यह तथ्य इस बात का संकेत है कि लोककला को अब हाशिए की अभिव्यक्ति नहीं माना जा रहा।

इसके साथ-साथ कला मेलों, क्राफ्ट मेलों और हाटों में लोक कलाकारों की भागीदारी भी बढ़ी है। दिल्ली हाट, सूरजकुंड मेला, शिल्पग्राम, दस्तकार जैसे मंचों ने लोक कलाकारों को सीधे उपभोक्ताओं से जोड़ने का अवसर दिया है। इसके अलावा, शहरी मध्यमवर्ग और अभिजात्य समाज में 'एथनिक' और 'हैंडमेड' को लेकर बढ़ती चेतना ने लोककला की मांग को भी बढ़ाया है। घरों, दफ्तरों और होटलों में लोक शैली की कलाकृतियों का प्रयोग अब सांस्कृतिक सजावट का प्रतीक बन चुका है, लेकिन इस सकारात्मक परिदृश्य के समानांतर कुछ गंभीर प्रश्न भी उभरते हैं। सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या बाजार के दबाव में लोककला अपनी मूल पहचान खोती जा रही है? लोककला की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्थानीयता थी। स्थानीय कथाएं, स्थानीय संसाधन, स्थानीय रंग और सामुदायिक निर्माण प्रक्रिया। आज इनमें से कई तत्व बदल रहे हैं। कई लोक कलाओं में अब प्राकृतिक रंगों और स्थानीय सामग्रियों के स्थान पर बाजार में उपलब्ध एक्रेलिक रंग, कैनवास और मानकीकृत सतहों का प्रयोग बढ़ गया है। इससे उत्पादन तो तेज़ हुआ है, लेकिन कला और उसके पर्यावरण के बीच का पारंपरिक संबंध कमजोर पड़ा है। इसी तरह, लोककला की सामूहिक प्रकृति, जहां पूरा समुदाय किसी कला परंपरा का वाहक होता था, अब लगभग समाप्त हो चुकी है। आज लोक कलाकार भी एकल निर्माता के रूप में पहचाने जा रहे हैं। यह परिवर्तन पूरी तरह नकारात्मक भी नहीं है। एक महत्वपूर्ण सकारात्मक पहलू यह है कि लोक कलाकार अब 'अनाम' नहीं रहे। वे भी समकालीन कलाकारों की तरह अपनी व्यक्तिगत पहचान, हस्ताक्षर और शैली के साथ सामने आ रहे हैं। यह बदलाव उन्हें आर्थिक और सामाजिक आत्मनिर्भरता प्रदान करता है। कला बाज़ार ने उन्हें दृश्यता दी है, जो पहले संभव नहीं थी। हालांकि विशेषज्ञों का मानना है कि समस्या बाजार की उपस्थिति नहीं, बल्कि उसके एकाधिकार में है। जब लोककला केवल बिक्री-योग्य वस्तु बन जाती है, तब उसकी सांस्कृतिक जटिलता और सामाजिक संदर्भ पीछे छूट जाते हैं। लोककला तब जीवन का हिस्सा न रहकर 'डेकोरेटिव प्रोडक्ट' में तब्दील हो जाती है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि लोककला के संरक्षण और उसके स्वाभाविक विकास के बीच संतुलन बनाया जाए। क्योंकि बाज़ार लोककला का सहायक तो बन सकता है, लेकिन नियंत्रक नहीं। लोक कलाकारों को केवल उत्पादक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक ज्ञान के वाहक के रूप में देखा जाना चाहिए। तभी लोककला परंपराएं न तो संग्रहालयों में कैद होंगी और न ही बाजार में अपनी आत्मा खोएंगी।